२००५ वि०

मूल्य

१॥)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव ( झाँसी ) में मुद्रित ।

श्रीः

कारा-बन्धन के

उन क्षणों की

स्मृति को

जिनमें

मन

मुक्त-सा हो उठा था

अथवा

जो

आचार्य नरेन्द्रदेव

ऐसे

आप्त जनों के

संसर्ग में

बीते

हैं

# निवेदन

आठ नौ वर्ष पहले कदाचित् किसी सूरदास को गाते देखकर 'कुणाल-गीत' लिखने की सूझी थी। आरम्भशूरता ने प्रवृत्त तो कर दिया, पर दो तीन गीत लिखने पर ही शरीर अलसा गया। उन गीतों के छपने पर मित्रों ने उनका स्वागत भी किया, परन्तु जहाँ अपना ही उत्साह शिथिल हो जाय, वहाँ बाहर का प्रोत्साहन क्या करे। बीच में एक दो बार चाहा भी कि वह कार्य पूरा हो जाय तो अच्छा। परन्तु मन बहुधा आप ही अपनी वंचना करता है। बीस बहाने बनाकर वह टालता आया।

अकस्मात गत वैशाख में भारत-रक्षा विधान के नाम पर, अपने भतीजे और अग्रज के सहित, अतर्कित राजबन्दी बनना पड़ा। शरीर के बन्धन में पड़ने से सम्भवतः मन की गति और भी उन्मुक्त हो उठती है। जेल का जीवन बिताने के लिए जैसे कुणाल के गीत पर्याप्त न थे। 'कारा' नाम से एक नया काव्य भी लिखा जाने लगा। फिर भी जी न भरा तो महाभारत की मूलकथा भी पद्य में प्रारम्भ हो गई।

झाँसी के जेल में तीनों का काम बारी बारी से दो चार बार चला। परन्तु शीघ्र ही झाँसी छोड़कर आगरे के सेन्ट्रल जेल में

जाना पड़ा। झाँसी में कुछ एकान्त-सा था, आगरे में पूरे प्रान्त भर का संघ। उसके शरण में जाते न जाते, पता न चला, कौन कहाँ छूटा! कुछ दिन बीतने पर कभी कभी रात के अँधेरे में मगध के इस अन्ध राजकुमार के एक आध गीत की गूँज उठने लगी। परन्तु सात महीने के जेल जीवन में जितने गीत लिखे गये, वहाँ से छूटते छूटते मन ऐसी स्थिति में आ गया कि घर आकर पन्द्रह दिन में उनसे अधिक लिख लिये गये। फिर भी इस पोथी का श्रेय बन्धन को ही है, मुक्ति को नहीं।

कुणाल के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण यह रहा है कि राजकुमार होने से अपने सब धर्मों के प्रजाजनों के प्रति उसक उदार व्यवहार स्वाभाविक है। अन्धभिक्षुक की दशा में तो उसकी मैत्री-भावना के लिए और भी अवकाश था। अतएव बौद्धकुल का होते हुए भी ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों को, उनकी भावनाओं के अनुरूप ही उद्बुद्ध करने में उसने अपने बड़प्पन की ही अभिवृद्धि की है।

महाभारत की आशा तो असम्भव ही दिखाई देती है, परन्तु सम्भव है 'कारा'* के दृश्य कभी पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो जायँ।

चिरगाँव

माघ, गणेशचतुर्थी १९९८ —लेखक

* यह काव्य 'अजित' नाम से प्रकाशित हो चुका है।—प्रकाशक

# परिचय

कहते हैं, कुणाल देवों के प्रिय सम्राट अशोक का अनुरूप पुत्र था। शरीर और मन दोनों दृष्टियों से वह अद्वितीय सुन्दर माना जाता था। लोग पार्वण चन्द्र के समान उसके दर्शन के लिए उत्सुक रहते थे। परन्तु प्रत्येक चन्द्र के पीछे एक राहु लगा रहता है। यहाँ भी वह, कुणाल की सौतेली माँ के पाप-रूप में, विद्यमान था।

एक बार सीमाप्रान्त में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। सम्राट् उन दिनों कुछ अस्वस्थ थे। पाटलिपुत्र में वीरों का क्या तोड़ा? परन्तु दया और क्षमाशील सम्राट् रक्तपात के व्यापार से विरत थे। वे ऐसा जन चाहते थे, जो बल-वीर्य के साथ-साथ बुद्धि-वैभव में भी सर्वोपरि हो और बल की अपेक्षा जिसके प्रभाव से ही शान्ति स्थापित हो जाय। कुणाल ही इस परीक्षा में प्रथम रहा। फलतः उसीको महाराज ने अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। कुणाल की सहधर्मचारिणी कांचनमाला भी उसके साथ गई। महाराज ने यह सोचकर कि राज्य-कार्य पूरा करके बहू-बेटे काश्मीर-भ्रमण करेंगे, सहर्ष उसे भी आज्ञा दे दी।

इधर कुणाल की सौतेली माँ ने रुग्ण-दशा में महाराज की ऐसी परिचर्या की, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी राजमुद्रा उसे सौंप दी।

पहले पाप अवसर पा लेता है तभी कदाचित् पुण्य की बारी आती है। एक दिन उसी राजमुद्रा से अङ्कित एक आदेश पत्र सीमाप्रान्त के अधिकारी के नाम पहुँचा। उसमें लिखा था—'कुणाल को अन्धा करके निष्कासित कर दो।'

कुणाल ने जिस प्रकार पिता का वह आदेश शिरोधार्य किया था, उसी प्रकार माता का यह आदेश भी शिरोधार्य किया। अन्धा होकर वह भिक्षाटन के लिए निकल पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं, उसकी पत्नी काञ्चनमाला उसके साथ थी।

कुछ दिन इधर उधर घूमता हुआ वह एकबार पाटलिपुत्र भी पहुँच गया और रात को उसके गीत की ध्वनि अशोक के कानों में जा पड़ी। वह पागल-सा प्रासाद से निकल कर कुणाल के आगे आ खड़ा हुआ। पिता-पुत्र मिले। प्रसिद्ध है, पिता के पुण्य से कुणाल को फिर दृष्टि लाभ हुआ। उसने पिता को विमाता का अपराध क्षमा करने के लिए भी बाध्य किया।

# कुणाल-गीत

श्रीगणेशाय नमः

वहाँ पन्थ-भय क्या भला, मेरे अन्ध प्रवन्ध ,
जहाँ खींचता है तुझे रामचरण-रज-गन्ध ।

१

मन की चेष्टा, तन के हाव,
भव के साथ रहेंगे भाव।

विकृति आप आकृति के साथ,
कृति है सदा प्रकृति के हाथ।
सुगत, तुम्हीं निष्कृति के नाथ,
पार लगाओ सबकी नाव।
भव के साथ रहेंगे भाव।

अन्ध हुई जिसकी माँ आप,
अवश उसीका अनुगत बाप;
काटे कैसे वह पथ-पाप?
दो उसको आहट, आराव।
भव के साथ रहेंगे भाव।

२

मुझे यही सन्तोष नितान्त—
तथाकथित विद्रोह यहाँ का हुआ सहज ही शान्त।
धर्मराज्य ही निज राजा को है अभीष्ट एकान्त;
दुर्बल नहीं कलिंग-विजेता, वह विशिष्ट विक्रान्त।
नहीं चाहता रक्तपात निज दया-प्रेम-सिद्धान्त,
बाह्य विजय में वैरवृद्धि ही, रहे विश्व विश्रान्त।
डालें यहाँ न भेद विदेशी, स्वार्थभाव से भ्रान्त,
मर्यादा के ही रक्षक हों सबके सीमाप्रान्त।

२

हृदय, तू दोनों ओर निहार,
तनय, सदयता से ही माँ का दिया दण्ड स्वीकार।
वे अवला हैं और प्रवल हैं ईर्ष्या-द्वेष-विकार;
नहीं पुनीता प्रजावती सब, जीता है संसार।
सिद्ध हुआ कैकेयी से भी उनका दान उदार,
मिला राम से तुझे अधिक ही बाह्य विषय परिहार।

बिदा हाय ! मेरे सुन्दर ,
अप्रवेश्य-सा अन्धकार मय
हुआ आज यह मेरा घर ।

चला एक जीवन-धन मेरा ,
क्यों मुझको दीखे न अँधेरा ?
तदपि बिछोह तात, यह तेरा
मैं स्वीकार करूँ कुछ कर ।
बिदा हाय ! मेरे सुन्दर !

सुमन-सेज पर सुला जगाया ,
कितना तेल-फुलेल लगाया ,
दिया तुझे सब, जो कुछ पाया ,
आया तो भी यह अवसर !
बिदा हाय ! मेरे सुन्दर !

तुझे दूध से धो नहलाया ,
फिर भी पड़ी पाप की छाया ।
और क्या करे अब यह काया ,
प्रायश्चित्त खड़ा सिर पर ।
बिदा हाय ! मेरे सुन्दर !

ठहर तनिक, एकान्त यहीं है ,
रह, रुक, ऐसी त्वरा नहीं है ;
अरे एक आदर्श कहीं है ?
तुझे देख तो लूँ दृग भर ।
विदा हाय ! मेरे सुन्दर !

अथवा बन्धु, गया तू जैसे ,
आकर्षण जावेगा वैसे ।
फिर संसार चलेगा कैसे ?
प्रलय न हो,मुझको यह डर ।
विदा हाय ! मेरे सुन्दर !

नहीं नहीं, यों कहीं न जा तू ,
बस बाहर की डीठ बचा तू ;
आ, आ, इस अन्तस् में आ तू ,
जहाँ एक ही नारी-नर ।
विदा हाय ! मेरे सुन्दर !

अब न किसी की भ्रभंगी हो ,
तू यथेष्ट निज रस-रंगी हो ।
यहाँ सत्य-शिव का संगी हो
नहीं वासना का तू वर ।
विदा हाय ! मेरे सुन्दर !

५

हाय ! राज्य की तृष्णा-रानी !
पीकर भी परितृप्त न होगी
तू इन मुक्ताओं का पानी !
मुझको तेरी मान्य महत्ता,
मुझमें क्या केवल परवत्ता ?
नहीं, एक मेरी भी सत्ता,
जगती में जन जन की जानी ।
हाय ! राज्य को तृष्णा रानी !
मैं यह सत्ता किसे दिखाऊँ ?
तुल्य प्रतिद्वन्द्वी तो पाऊँ ।
तुझ पर क्यों न तरस ही खाऊँ,
सह लूँ यह थोड़ी सी हानी ।
हाय ! राज्य की तृष्णा रानी !

मैं जिस गौरव का अधिकारी,
सौ राज्यों से भी वह भारी।
तज वसुधा की विभुता सारी
मान्य बुद्धि भी उसके मानी।
हाय! राज्य की तृष्णा रानी!

तुझमें तनिक वितृष्णा लाऊँ,
इतने से ही मैं भर पाऊँ।
देख चुका, अब देखा जाऊँ!
होगी यह भी एक कहानी!
हाय! राज्य की तृष्णा रानी!

६

करो माँ, करुणा की ही वृष्टि ;
तुम क्रोधान्ध न हो, प्रस्तुत है, लो, यह मेरी दृष्टि ।
आज्ञा से बाहर हूँ मैं कब ?
इतने से भर पाऊँगा सब ,
मेरी आँखों से देखो अब ,
कुछ की कुछ हो सृष्टि ।
करो माँ, करुणा की ही वृष्टि ।

७

मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा?
हिम किंवा खर-रश्मि-राशि में
किसमें आज समायगा?

दोनों में अपने को खोना,
और उन्हें कुछ लाभ न होना।
पर क्या अपने को देकर तू
उनको आप न पायगा?
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा?

क्या होगा लेकर भी इतना?
हमें यथार्थ अपेक्षित कितना?
वह मरीचिका-जाल, न जानें,
कहाँ कहाँ भरमायगा!
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा?

क्या स्वतन्त्र खद्योत बनेगा ?
तिमिर-रत्न-खनि खोज खनेगा ?
कुसुम-कुञ्ज को दीपित करके
ऊजड़ वास बसायगा ?
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?

अथवा पर-हितार्थ तू निज से,
ऊँचे उठकर कहीं क्षितिज से,
ध्रुव-तारक-सा भ्रान्त-पथिक को
उचित-दिशा दिखलायगा ?
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?

विचर यथेच्छ मनोरथ पर तू,
डाल प्रकाश किसी पथ पर तू।
मैं कृतार्थ, यदि कभी किसीके
काम यहाँ तू आयगा।
मेरी आँखों के ज्योतिर्युग,
बता, कहाँ तू जायगा ?

८

दान भी व्यवसाय ही है।
दृष्टि के इस दान में भी, दीख पड़ती आय ही है।
आज जो दे जायँगे हम,
कल प्रवर्द्धित पायँगे हम,
मृत्यु में भी नव्य जीवन-
लाभ लेकर आयँगे हम।
मूलधन की वृद्धि का यह नियत एक उपाय ही है।
दान भी व्यवसाय ही है।

किन्तु देना और पाना,
नित्य जाना और आना,
इस भ्रमण—इस संक्रमण का
है भला कोई ठिकाना ?
चिर विसर्जन-हेतु अर्जन कर रहा बस हाय ही है।
दान भी व्यवसाय ही है।

६

बहता ही रहता है वात ,
दिन मेरे तो किसकी रात ?

मेरे जगते तारे सोये ,
अरुण हुए वे किसके कोये ?
जाग विहग गाये या रोये ,
सीमित है क्या नहीं प्रभात ?
दिन मेरे तो किसकी रात ?

उठो, चलो, मेरे पग, आओ ,
क्या है, बढ़कर जिसे न पाओ ?
अपना पथ तुम आप बनाओ ,
बने रहें बाधा - व्याघात ।
दिन मेरे तो किसकी रात ?

१०

हे अवनि और अम्बर, प्रणाम ;
करता हूँ सबसे राम राम।

हे रवि-शशि-ग्रह-तारक-समाज ,
हे वर्ण वर्ण के साज-बाज ,
लेता हूँ सबसे बिदा आज।
रह हरा-भरा तू धरा-धाम!
करता हूँ सबसे राम राम।

हे ह्रद-नद-निर्झर, घरे वेत्र ,
हे वन-उपवन, हे हरे क्षेत्र ,
रह जायँ रिक्त ये मेरे नेत्र ,
तुम भरे रहो चिर सरस-श्याम।
करता हूँ सबसे राम राम।

हे सान्ध्य वृष्टि-घन, मधुर मन्द्र,
शुभ शरन्निशा के कुमुद-चन्द्र,
मधु के प्रभात-अम्बुज अतन्द्र,
लूँ मैं किस किसका आज नाम ?
करता हूँ सबसे राम राम।

बाहर से कुछ दीखे न आज,
सब रहे किन्तु भीतर बिराज।
रम रहा व्यक्ति में ज्यों समाज,
तुम जागो मुझमें अष्ट याम,
करता हूँ सबसे राम राम।

अवलोक लोक-सौन्दर्य-सृष्टि
होगई कृतार्थ कुणाल-दृष्टि।
सब संसृति पर हो अमृत-वृष्टि,
गूँजें घर घर में तीन ग्राम।
करता हूँ सबसे राम राम।

छोड़े मैंने मणि-रत्न आज,
चुक गये स्वयं वे यत्न आज ?
पर मेरा कौन सपत्न आज ?
मैं दक्षिण हूँ, विधि रहे वाम।
करता हूँ सबसे राम राम।

दीखे न भले ही रूप-रंग,
आने दो द्विज! निज ध्वनि-तरंग।
श्रुति में हो दर्शन के प्रसंग!
निष्काम आप ही पूर्ण काम।
करता हूँ सबसे राम राम।

निर्मुक्त हुई यह आज सीप,
तुम जलो न मेरे अर्थ दीप!
झुलसें न शलभ आकर समीप;
मेरी निशि में सब लें विराम।
करता हूँ सबसे राम राम।

## ११

अब तक आँखों में था, आ अब
बस इस मानस में उत्पल !
सौ रूपों का एक भूप तू
मेरे श्रीमन्दिर शतदल !

मेरा शून्य-सुधाकर थपकी
देकर तुझे सुलावेगा ,
गुणी भृङ्ग के द्वारा दिनकर
तेरा द्वार खुलावेगा ,
मद-कल हंस प्रशंस भाव से
हँस हँस टेर बुलावेगा ,
श्वसन गुदगुदा कर लहरों से
रस-वश व्यजन डुलावेगा।

ढुलक पुलक-जल के मुक्ताफल
झलकेंगे तुझ पर झलमल ,
अब तक आँखों में था, आ अब
बस इस मानस में उत्पल !

अन्तर्मुख होकर मैं कैसे
जाऊँ बाहर त्याग तुझे ?
शतदल से सहस्रदल करके
पाऊँ मैं प्रिय भाग, तुझे,
मिला कहाँ से बता जगत में
यह अलिप्त रस-राग तुझे,
भरना है इस अन्तस् में भी
अपना पुण्य पराग तुझे।
तोड़ सकेगा तुझे यहाँ से
नहीं किसी का भी छल-बल,
सौ रूपों का एक रूप तू
मेरे श्रीमन्दिर शतदल

## १२

अमर हो, ओ मेरे संसार !
कहूँ कहाँ तक, मुझ पर कितने हैं तेरे उपकार !
जितना भी तेरा वैभव था ,
नित्य निरन्तर वह नव नव था ,
कुछ न छिपाया तूने मुझको, दिया खोल भंडार ।
अमर हो, ओ मेरे संसार !

माँ की ममता, तात-तितिक्षा ,
पूज्य गुरुजनों की शुभ-शिक्षा ,
मित्र-मंडली का विनोद वह, और प्रिया का प्यार !
अमर हो, ओ मेरे संसार !

फूल और उनमें रंग कितने ,
गन्ध और मधु इतने इतने ।
रूप, रूप के साथ सुगुण भी और शील-संचार !
अमर हो, ओ मेरे संसार !

स्वर्ण दिवस, चाँदी की रातें ,
अपनों से जगती की बातें ।
रुचि-वर्द्धक ऋतुओं ऋतुओं के रम्याहार-विहार ।
अमर हो, ओ मेरे संसार !

इतर दृश्य भी थे कुछ तेरे ,
बनें दृष्टिगत जब तक मेरे ,
मूँदे तब तक ये दृग तूने बनकर कठिन उदार !
अमर हो, ओ मेरे संसार !

## १३

सोये हैं मुँद मेरे सरोज,
जगें, पूर्णता पावें विधु में
रूप, रंग गुण और ओज।
करें तिमिर में तारे झिलमिल,
भरें सुगन्ध कुमुद खुल खिलखिल।
रुद्ध मधुप, तुम करो न किलबिल,
खोओ स्वयं न ठौर खोज।
सोये हैं मुँद मेरे सरोज।
बैठो, पग क्यों पटक रहे हो?
क्या काँटों में अटक रहे हो?
किस बाहर पर भटक रहे हो?
लो, भीतर ही मधुर भोज।
सोये हैं मुँद मेरे सरोज।

## १४

परिपाक हो पाया न रस का, रङ्गशाला फिर गई,
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

अब हैं कहाँ वे नट-नटी?
बातें बहुत दिन की रटी?
यह पड़ गई सब पर पटी
कृपि-सी तिमिर की निर गई।
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

पल में बुझी दीपावली,
जो झिलमिलाती थी भली।
यह कौन-सी आँधी चली,
काली घटा आ घिर गई।
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

उद्भ्रान्त उत्सुकता रही,
इस जगत की गति है यही।
पर भरत-वाक्य बना वही;
मेरी तरी तो तिर गई।
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

दर्शक, सँभल कर जाइयो,
मन हो, कभी फिर आइयो।
तुम स्वप्न में भर पाइयो,
जो त्रुटि समय के सिर गई।
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

तुम घूम चारों खूँट लो,
रथ, अश्व, गज, या ऊँट लो,
रस के जहाँ लो, घूँट लो;
वह ईख तो अब पिर गई;
लो, बीच नाटक में यवनिका छूट सहसा गिर गई।

## १५

रहे रिक्त कोटर हत भंग,
ओहो! ये उड़ गये विहंग।

निकल नीड़ के अन्ध कुँए से,
उड़ते हैं अवशेष रुएँ-से।
तिनकों से उठ रहे धुएँ-से,
कुञ्ज, कहाँ अब वे रस-रंग?
ओहो! ये उड़ गये विहंग।

गई गूँज भी दूर गगन में,
रही एक सन सन इस वन में।
बची साँस ही साँस पवन में,
सूख गये सुमनों के अंग,
ओहो! ये उड़ गये विहंग।

कहाँ स्वस्थता रह पाती है?
सूने में यह सुध आती है।
सुध आती है, बुध जाती है!
रहूँ आज मैं किसने संग?
ओहो! ये उड़ गये विहंग।

१६

आओ शून्य, भरो यह अंक !
व्यापारिणी नियति प्रस्तुत है
लेकर भ्रू-विकार यह वंक !
मैं घाटे में नहीं रहूँगा,
दीन-वचन किस लिए कहूँगा ?
तिमिर-पङ्क यह सहज सहूँगा,
फूटें अर्थ - पद्म अफलङ्क;
आओ शून्य, भरो यह अङ्क !

१७

मैं नई पहेली बूझ रहा।
बाहर मुझे न दीखे कुछ भी,
भीतर सब कुछ है सूझ रहा।
मैं भीतर ही देखूँ-भालूँ,
अन्ध-सिन्धु के रत्न निकालूँ;
वही अमृत-भागी है मेरा,
जो निज विष से है जूझ रहा।
मैं नई पहेली बूझ रहा।

## १८

रहा यह भी अद्भुत रस-रङ्ग !
मैं प्रस्तुत भी न था, आगया सहसा नया प्रसङ्ग ।

इसीलिए थी क्या निज दीक्षा,
आकर ऐसी विषम परीक्षा,
दुस्सह दर्प-दम्भ दिखला कर करे कुटिल भ्रू-भङ्ग ?
रहा यह भी अद्भुत रस-रङ्ग !

हुआ हतप्रभ-सा मैं क्षण भर,
झुकी अन्त में वही वरण कर,
बढ़ा बद्ध भी आज मुक्त मैं भरे अपूर्व उमङ्ग ।
रहा यह भी अद्भुत रस-रङ्ग !

१६

अब सूर कहो वा चन्द्र कहो,
जो अन्ध हुआ सो अन्ध अहो!
पद अपना अर्थ पलट देगा,
यदि पात्र आप अनुरूप न हो।
मेरी कृतार्थता अब इतनी—
निज भावों से सब सजग रहो;
सहना है एक अभाव यहाँ,
तुम चाहे जैसे उसे सहो।

२०

हो गया क्या नष्ट मेरा ?
मैं न होऊँ, भव-विभव सब हो भले ही भ्रष्ट मेरा ।

जा रजस्, तू खोज अपना और कोई चटुल चेरा ;
डाल देवे तमस् मुझ पर दसगुना घन-घोर घेरा ।
स्वगति सत्पथ पर रहे तो क्या करेगा यह अँधेरा ?

दीखने दो कुछ न मुझको, लक्ष्य है सुस्पष्ट मेरा ।
हो गया क्या नष्ट मेरा ?

क्या हुआ यदि आज मैंने बाह्य संसृति को न हेरा ?
नियति, कितना स्वप्नमय है यह असित अभिसार तेरा ?
मिलन की यह रात शुभ अथवा विरह का वह सवेरा ?

पा गया पंछी बसेरा, तो कहाँ श्रम-कष्ट मेरा ?
हो गया क्या नष्ट मेरा ?

## २१

काँटे-कंकर, गर्त्त भयंकर,
रहा मुझे अब किसका डर ?
चलता हूँ मैं अन्धा होकर
आज तथागत के पथ पर।

द्वेष न दम्भ न दोष मुझे है,
यथालाभ सन्तोष मुझे है।
प्राप्त कर्म का कोष मुझे है,
मेरा फल है मेरे कर।
चलता हूँ मैं अन्धा होकर
आज तथागत के पथ पर।

नहीं चाहता मैं कोई धन,
बहुत मुझे हैं थोड़े से कन ;
मेरे हैं सब जगती के जन,
जहाँ रहूँ मैं, मेरा घर,
चलता हूँ मैं अन्धा होकर
आज तथागत के पथ पर।

२२

रुक, यात्रा के पूर्व पथिक, रुक ,
एक नहीं तो अर्द्ध निमेप ;
पथ अनजाना और अँधेरा ,
कौन देश है, कैसा वेप ।
जो दक्षिण सो तो सहाय है ,
देख न देख भले उसको ,
किन्तु समझ ले वाम ओर यदि
हो कुछ बाधा-विघ्न विशेप ।

## २३

अयि जीवन की ज्योती !
मैं अन्धा भी देख रहा हूँ, रोती हो तुम, रोती !

क्या कुणाल को दीन जानकर,
मन में करुणा क्लेश मानकर,
नयन-शुक्तियों में समान भर
देती हो ये मोती ?
अयि जीवन की ज्योती !

प्रिये, आज तो त्याग-दिवस है,
सुख ही नहीं, दुःख भी वस है।
यह भी एक नया ही रस है,
तुम क्यों कातर होती ?
अयि जीवन की ज्योती !

गेह गया, पर विश्व बड़ा है,
सभी ओर पथ खुला पड़ा है।
लोक जाय, परलोक खड़ा है,
चलो, सींचती - बोती।
अयि जीवन की ज्योती !

तुम अन्धे की यष्टि हमारी !
बनो न हा ! गान्धारी !

हम तापस हैं स्वयं स्वसेवक ,
कौन हमारा पथप्रदर्शक ?
वह रानी थी, आज तुम्हारी
भिन्न परिस्थिति सारी ,
बनो न हा ! गान्धारी ।

देखोगी सम्मुख तुम सब कुछ ,
अपने लिए किन्तु अब कब कुछ ?
यह व्रत तो उससे भी भारी ,
सुनो अहो सुकुमारी !
बनो न हा ! गान्धारी ।

पट्टी आप तुम्हारी पलकें ,
बिखर रही हैं जिन पर अलकें ।
छुसे कहाँ 'जग वायु' विकारी ?
दृष्टि सजल, बलिहारी !
बनो न हा ! गान्धारी ।

२५

अरी भावती, भामिनी !
मेरी कांचन - कामिनी !
हो जा अब तो अग्रगामिनी ,
रही बहुत अनुगामिनी !
अरी भावती, भामिनी !

भोजन में मातृत्व दिखाकर ,
भगिनी-सी शुभ सीख सिखाकर ,
रही सेविका नाम लिखाकर ,
लिख लूँ अब तो स्वामिनी ?
अरी भावती, भामिनी !

तुझमें मेरा सारा जग है ,
मेरे पग हैं, तेरा मग है।
चन्द्रमुखी, किससे जगमग है
मेरी यह चिरयामिनी ?
अरी भावती, भामिनी !

## २६

प्रिये, क्या दुःख और क्या शोक ?
दिखलावे वैषम्य-विकृति जो, जावे वह आलोक।

हटी हृदय की ग्लानि-शिला है,
एकाकार अखण्ड इला है।
नयनों को निर्वाण मिला है,
कोई रोक न टोक।
प्रिये, क्या दुःख और क्या शोक ?

जो थे दूर, निकट अब आये,
भेंट सहानुभूति की लाये।
हमने अब उद्घाटित पाये,
अखिल लोक के ओक।
प्रिये, क्या दुःख और क्या शोक ?

शुभे, आज शुभ दिन ही आया,
मुँदकर खुली अहा! ये आँखें, मैंने सब भर पाया।
ऊँचे से ऊँचे वैभव में,
पले नहीं क्या हम इस भव में ?
सदा सरस स्वीकृति के रव में
मुहँ माँगा यह लाया।
शुभे, आज शुभ दिन ही आया।
प्रभुता, यौवन, रूप और गुन
दिये हमें इसने सब चुन चुन।
हम क्यों भूले रहे देख-सुन,
मोहमयी है माया।
शुभे, आज शुभ दिन ही आया।
किन्तु हमारी प्रकृति प्रबल है,
छिपता कब तक किसका छल है ?
जल निर्मल, पर पंकिल तल है,
खुला भेद मन भाया।
शुभे, आज शुभ दिन ही आया।

आज जूझने को अपने से
प्रस्तुत हैं प्रेयसि, हम जैसे,
पहले कभी नहीं थे वैसे।
मनोमुखी है काया।
शुभे, आज शुभ दिन ही आया।

होती यदि बाहर न अँधेरी,
खुलती अन्तर्दृष्टि न मेरी।
व्यथा जानता हूँ मैं तेरी,
जो मदर्थ ही जाया।
शुभे, आज शुभ दिन ही आया।

२८

देखता हूँ मैं अद्भुत आज,
संगिनी, दूर नहीं अब मुझसे वे मेरे अधिराज।

हेम-हर्म्य में अपने प्रभु को
क्या हम बैठ बुलाते थे?—
जहाँ हमींको ईश मानकर
अनुचर चौंर डुलाते थे।
नहीं, शिल्प कौशल से उत्सुक
मन को वहाँ भुलाते थे;
प्रभु के बदले पाते थे बस राजोचित सब साज।
देखता हूँ मैं अद्भुत आज।

निर्मल जल के तीर उन्हींका
आराधन हम करते थे,
किंवा शत तरंग-भंगों से
अपना मानस भरते थे?
अन्यमनस्क देखकर हमको
प्रभु भी दूर विचरते थे;
पतियाते थे कब जलचर भी, आती है अब लाज।
देखता हूँ, मैं अद्भुत आज।

कुञ्जों में ही अपने प्रभु की
बाट जोहते थे जब हम,
उनको भूल कुसुम-वैभव ही
देख मोहते थे तब हम।
एक उन्हींको अन्ध-भाव से
कहाँ टोहते थे कब हम?
माँ की कृपा कुणाल न भूले, फूले स्वजन-समाज।
देखता हूँ, मैं अद्भुत आज।

## २६

बिलमो टुक छाया में बाले,
प्रकट दीख पड़ते हैं मुझको उन तलवों के छाले।

श्रमकण बन चू रहा सुतनु-रस,
खलभल उबल रहा है मानस,
नस-नलिकाओं ने कर कस मस
क्या दाहक द्रव ढाले।
बिलमो टुक छाया में बाले।

तुम्हें देखने को कुम्हलाती,
अन्ध हुआ क्या मैं अपघाती?
युक्ति नहीं ऐसी बन आती
जो यह सङ्कट टाले।
बिलमो टुक छाया में बाले।

रहो मायके ही तुम जाकर,
मिला करूँ जब तब मैं आकर।
उसको क्या खोओगी पाकर,
पड़ा आप जो पाले।
बिलमो टुक छाया में बाले।

सुन्दरि, मैं सिद्धार्थ नहीं हूँ,
रहूँ भले ही राजकुमार।
इनका चरण-धूलि-कण भी है
मेरे माथे का शृङ्गार।

तुम क्यों गोपा-सदृश सहोगी,
सागर में ज्यों रमा, रहोगी।
समय समय का सहज मिलन भी
होगा एक रहस्य उदार।
सुन्दरि, मैं सिद्धार्थ नहीं हूँ,
रहूँ भले ही राजकुमार।

मान लिया मैंने कुलवन्ती,
नल के साथ गई दमयन्ती।
गईं राम के साथ मैथिली,
स्वाभाविक था यह आचार।
सुन्दरि, मैं सिद्धार्थ नहीं हूँ,
रहूँ भले ही राजकुमार।

किन्तु विचार उन्हींकी बाधा ,
रह जाता हूँ मैं यह आधा ।
तनिक प्रतीक्षा भी कर देखे
प्रिये, तुम्हारा-मेरा प्यार !
सुन्दरि, मैं सिद्धार्थ नहीं हूँ ,
रहूँ भले ही राजकुमार ।

क्या कहती हो राजकुमारी ,
'सह न सकूँगी, मैं सुकुमारी !'
तो फिर जो कुछ और शेष हो ,
चलो, करें उसको स्वीकार !
सुन्दरि, मैं सिद्धार्थ नहीं हूँ ,
रहूँ भले ही राजकुमार ।

३१

नीरव क्यों सहसा सुप्रलाप ?
निकले क्या नूपुर निचुक आप ?

आज काल-गति गुनता हूँ मैं,
तुम कहती हो, सुनता हूँ मैं;—
'जावें नूपुर और किंकणी
पावें पदतल किण-कलाप !'
निकले क्या नूपुर निचुक आप ?

बसी मूर्ति इस मन में जैसी,
रहे प्रिये, वैसी की वैसी।
कहे और क्या यह जन तुमसे ?—
सहे भले सौ अन्य शाप।
निकले क्या नूपुर निचुक आप ?

## ३२

रहे प्रिये, यह विकल कल्पना, छोड़ो वृथा विलपना ,
क्या कहती हो, जन्म न होता राजभवन में अपना ?

जन्म न लेते हम वहाँ, तो क्या अन्य न और ?
क्यों न हमीं फिर झेलते आकर उनके ठौर।
सुलभ किसे यह तपना ?
छोड़ो वृथा विलपना।

बड़े हुए तो आप क्यों छोटे हों हम लोग ?
मिलता है किसको यथा त्याग-याग का योग ?
यों यह सब कुछ सपना।
छोड़ो वृथा विलपना।

क्या कहती हो मेरी रानी !
विना विचारे ही क्या मैंने माँ की आज्ञा मानी ?

कलुप-कृत्य को सफल बनाया ,
अनौचित्य को उचित जनाया ,
आत्मघात करने में भी क्यों हुई न मुझको ग्लानी ?
क्या कहती हो मेरी रानी !

सुनूँ तुम्हींसे, मैं क्या करता ?
क्या दल बाँध धनुःशर धरता ?
इसमें किसके जीवनधन की होती कितनी हानी ?
क्या कहती हो मेरी रानी !

मैंने जो यह मार्ग लिया है ,
माँ को सदय सुयोग दिया है ;
करके वे अनुताप शुद्ध हों, वहै पाप वन पानी ।
क्या कहती हो मेरी रानी !

सत् से जन कब तक भागेंगे ?
आज नहीं तो कल जागेंगे ।
बादी नहीं बना, न्यायी ही रहा तुम्हारा मानी ।
क्या कहती हो मेरी रानी !

३४

संगिनि, तू फिर सिसकी !
कहाँ रहें, क्या करें आज हम,
वृथा भावना इसकी।

जाग, सँभाल तनिक अपने को,
जाने दे अब उस सपने को।
हटा हाथ से वे निज अलकें,
जो पलकों पर खिसकी।
संगनि, तू फिर सिसकी !

हुई धूप भी मुझको छाया,
गई आप ही मिथ्या माया।
आज हमारी चिन्ता सबको,
हमें नहीं जिस-तिसकी।
संगिनि, तू फिर सिसकी !

हममें कुछ छल-छिद्र नहीं है,
सदय स्वदेश दरिद्र नहीं है।
वसुधा विपुल, समाज सुसंस्कृत,
कह फिर बाधा किसकी ?
संगिनि, तू फिर सिसकी !

अब क्या हम सुख से न रहेंगे ?
सबकी सुन अपनी न कहेंगे ?
भिक्षुक भी राजा हूँगा मैं ,
तुझ-सी रानी जिसकी ।
संगिनि, तू फिर खिसकी !

हम बाहर हों अथवा घर में ,
अपना धन है अपने कर में ।
आ, हँस कर ही करें उपेक्षा
निठुर नियति की रिस की ।
संगिनि, तू फिर सिसकी !

३५

आँख नहीं तब रोना कैसा ?
वैसा ही आकाश ओढ़ना, भूमि बिछौना जैसा ।
क्या लेना है हमें किसीसे, पास नहीं जो पैसा ?
अरी प्रेम की अन्धी, हँस ले, कठिन योग है ऐसा ।

३६

शुभे, क्यों यह संकोच निदान ?
अब सब पर अधिकार हमारा, क्या यह कम सम्मान ?
भिक्षुक तो कर चुका प्रथम ही अपना सब कुछ दान ,
अब जिनका दातव्य, उसे वे दें भोजन-परिधान
जिन्हें शुल्क-कर देने में है विवश भाव का भान ,
भिक्षा देते हुए उन्हें भी शुद्ध धर्म का ध्यान ।
राजनन्दिनी बनी भिक्षुणी, यह भी बड़ा विधान ,
लेते लज्जा, तो देते क्यों करो न लज्जा मान ?
मरने गौरव - गर्व हमारे अपने गीले गान ,
ये आँखें मुँद जायँ किन्तु खुल जायँ जगत के कान !

३७

व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोना क्या ?

क्लेश नाम से ही कर्कश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के वस होना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ?

अपना सुख औरों में देखें,
तो हम इस दुख को क्या लेखें ?
सुलभ न होगा प्रिये, हमें अब कहीं एक कोना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ?

## ३८

सोच न कर तू मेरा ;
हुआ प्रिये, प्रेमान्ध मात्र मैं, डाल कहीं भी डेरा ।

निर्मल जल में हिलता-डुलता ,
शोभन शतदल खिलता-खुलता ,
रहता है मेरे सम्मुख वह रखकर सजग सवेरा ।
सोच न कर तू मेरा ।

नील गगन में झलमल करता ,
वसुधा का हरितांचल भरता ,
उदित इन्दु सन्ध्या में मेरी हरता हुआ अँधेरा ।
सोच न कर तू मेरा ।

और, और क्या कहूँ अहा ! मैं ,
अविरत अपलक देख रहा मैं—
वह अरविन्द-इन्दु-अभिनन्दित शील-भरा मुख तेरा !
सोच न कर तू मेरा ।

३६

रह सकता था मुझ-सा जन तो
शर-शय्या पर भी सोकर,
तेरे जीवन में भी ओहो!
रहा आज यह दिन होकर।
पीठ भेदते हैं तृण तेरी,
छाती छेद रहे व्रण मेरी।
यही समय की हेरा-फेरी
काँटे चुनो, कुसुम बोकर।
तेरे जीवन में भी ओहो!
रहा आज यह दिन होकर

प्रिये, किन्तु अब सब सहना है ,
नहीं किसीसे कुछ कहना है ।
हँसकर ही मुझको रहना है ,
क्षत को क्षार न दूँ रोकर ।
तेरे जीवन में भी ओहो !
रहा आज यह दिन होकर ।
मेरी चाह उसीसे रख ले ,
जा कपोल-चुम्बन-रस चख ले !
पुलक वही है, देख-परख ले ,
नव सात्विक-जल में धोकर ।
तेरे जीवन में भी ओहो !
रहा आज यह दिन होकर ।

अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?
काया के बदले छाया की यों चिन्ता न करे ?

अपने में मूर्च्छित हो छाया ,
पर चेतन रखती है काया ।
कंटकित छाया काया का क्योंकर ताप हरे ?
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?

तो भी यह तप लिया आप जब ,
दिया जाय तब किसे शाप अब ?
वर्त्तमान बद भावी से ही अखिल अभाव भरे ।
अयि ममतामयि क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?

सचमुच ही तुम छाया मेरी ,
कितनी शीतल, सघन अँधेरी ।
तो क्यों मेरा भ्रमणशील यह जीवन कहीं डरे ?
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?

पीछे छूट प्रकाश गया है ,
आगे छाया, दैव दया है ।
रहा उसी पर अवलम्बित मैं, तारे और तरे
अयि ममतामयि, क्या कहती हो, यह जन धैर्य धरे ?

४१

कितनी-सी थी मेरी दृष्टि ?
देखेगा अब देवि, तुम्हारी आँखों में सब सृष्टि ।

पथ हो विषम, रात हो काली ,
तुम जो हो ले चलने वाली ।
जब अंचल की छाया पा ली ,
तब क्या तप, क्या वृष्टि ?
कितनी-सी थी मेरी दृष्टि ?

४८

भिन्न लोक से लोकावृत जो
रहे भवन - उपवन में,
मिले परस्पर हम दोनों जन
आज यथार्थ विजन में।

दिया क्षुधा ने ही अब सच्चा
स्वाद हमें भोजन में,
राज-काज के सोच गये सब,
आई शान्ति शयन में।
स्वार्थ खिला परमार्थ रूप में,
तत्त्व मिला चिन्तन में;
उतरा भार, मुक्ति ही मानों
प्रकट हुई जीवन में।

उस उदारता से भी अब क्या
नहीं उच्चता मन में?
मिले परस्पर हम दोनों जन
आज यथार्थ विजन में।

आ, सुप्रभात, मेरे प्रभात !
आ, नव सुहाग की एक रात !

मिट गया आज सब राज-रोग ,
मुक्तोज्झित अपने अखिल भोग ।
तप आया लेकर त्याग-योग ,
क्या बिगड़ी अथवा बनी बात ?
आ, नव सुहाग की एक रात !

नव धैर्य और लो अब उपाधि ,
छूट जाय आधि, छूट जाय व्याधि ।
शुभ स्वप्न दिखा मुझको समाधि ।
जागें जिनको मेरे सजात ।
आ, नव सुहाग की एक रात !

अब इस जीवन का शान्ति पर्व ,
इति फिर निद्रित संताप सर्व ।
गत सुख-शान्ति मेरा शून्य-गर्व ,
निज मानस में रस का प्रपात ।
आ, नव सुहाग की एक रात !

५४

जाय, गया जो उजियाला,
अँधियारे में लिये मगन मैं निज निधि कांचनमाला।

सुन्दर स्वस्थ सजीव दृश्य सब
दीखेंगे वैसे ही वे अब।
गलित न होगा कुछ भी मेरा ललित रूप-रस वाला।
जाय, गया जो उजियाला।

फूल रहा अब भी सब आगे,
ऊपर रवि - शशि - तारक जागे;
नीचे कितने फूल खिले हैं, प्रकृति सुरम्य रसाला।
जाय, गया जो उजियाला।

कल-जल-लहरी सरसिज-सज्जित,
जिसमें ऊषा आप निमज्जित।
विम्बित ज्यों इस मानस में यह विधु-मुख भोला-भाला।
जाय, गया जो उजियाला।

मेरा तो सब हरा-भरा है,
दृष्टि गई वा गई जरा है?
मेरी वधू हुई अब मुझको चिर युवती नव बाला।
जाय, गया जो उजियाला।

अन्तस् में भर गया दरस-रस,
आगे पुलकित करे परस बस।
तने छत्र-सा मेरे शिव पर मेरा मणिधर काला!
जाय, गया जो उजियाला।

४५

हाँ, निशान्त आया ,
तूने जब टेर प्रिये, 'कान्त, उठो' गाया—
चौंक शकुन-कुम्भ लिये हाँ, निशान्त आया।

आहा! यह अभिव्यक्ति ,
द्रवित सार-धार-शक्ति।
तृण तृण की मसृण भक्ति
भाव खींच लाया!
तूने जब टेर प्रिये, 'कान्त, उठो' गाया।

मागध वा सूत गये ,
किन्तु स्वर्ग-दूत नये ,
तेरे स्वर पूत अये ,
मैंने भर पाया।
तूने जब टेर प्रिये, 'कान्त, उठो' गाया।

## ४६

सङ्गिनि, यह क्या कहूँ, आज हम चलें कहाँ ?
उद्धत हूँ मैं एक भाव से यहाँ - वहाँ ।
मुझे कहीं भी न तो नहीं है और न हाँ ,
चलो, हमें ही मिले न अपना खोज जहाँ !

४७

रहता कहीं दृष्टि का लेश ,
निज भगिनी-भ्राता-सा मैं भी जाता प्रिये, विदेश ।
बन जाते क्रीड़ा-कौतुक-से हमें भ्रमण के क्लेश ,
पाते वे दूरस्थ बन्धु भी सरल सुगत-सन्देश ।

८४

वीत जावेगा चातुर्मास्य,
चिन्ता की घनघटा प्रिये, क्यों? लिखे अब्ज-सा आस्य।

नगर-निवासी हम नागर जन,
देखें क्यों न ग्राम का जीवन।
रहने देगा तुम्हें न उन्मन
अकुटिल हार्दिक हास्य,
बीत जावेगा चातुर्मास्य।

हरित-सिन्धु का सार्वजनिक-सा,
होगा अपना द्वीप तनिक-सा।
पुर-वणिकों का धान्य-धनिक-सा,
आशा-जनक उपास्य।
बीत जावेगा चातुर्मास्य।

देंगे जन याचक बन भिक्षा,
भोजन, दूध, दही, आमिक्षा।
लेंगे वे तुमसे कुछ शिक्षा,
तब कैसा औदास्य?
बीत जावेगा चातुर्मास्य।

नर-नारी सुख-दुख के संगी,
घर घर झाँझ, मुरज, सारंगी,
सरल भाव-मुद्रा, गति-भंगी,
लो ताण्डव, लो लास्य।
बीत जावेगा चातुर्मास्य।

-

सब पथ अपने लिए खुले ,
चलो गाँव की ओर, जहाँ जन
सभी एक से मिले-जुले ।

मनुज श्रमी श्रद्धालु सुखी हैं ,
स्त्रियाँ संगिनी सरलमुखी हैं ।
जीवन का रस पाकर दोनों
दुग्ध - शर्करा - तुल्य घुले !
सब पथ अपने लिए खुले ।

हार मानती जहाँ जरा है ,
अनिल-सलिल में स्वास्थ्य भरा है ।
हरा-भरा है सकल धरातल
पत्र पत्र बन व्यजन डुले ।
सब पथ अपने लिए खुले ।

क्यों न उन्हींके बीच रहें हम ,
उनकी-अपनी सुनें - कहें हम ,
सोना और सुगन्ध कहाँ, कब
एक दूसरे पर न तुले ?
सब पथ अपने लिए खुले ।

## ५०

सुनाती चल कोयल, कल गान,
देखें और न देखें आँखें, अमृत पियें ये कान।

तेरे हाथ वौर का होना,
कषा कसौटी पर ज्यों सोना !
इससे क्या, करता है मुझको वह सौरभ का दान।
सुनाती चल कोयल, कल गान।

गिने पेड़, जो गिनना चाहें,
यह रसना तो स्वाद सराहे।
फलते रहें रसाल और तू करती रह रस-पान।
सुनाती चल कोयल, कल गान।

वह मलयानिल, यह तू ही कह,
है किस रूप-रंग का मह मह ?
दर्शक हो सो देखे मुझमें उसका पुलक महान।
सुनाती चल कोयल, कल गान।

## ५१

देखती चलो, यहाँ के रंग !
प्रकृति वायु-सेवन करती-सी खड़ी खोल कर अंग !
नील गगन में अस्तोदय की अरुण अबाध उमंग ;
शस्यश्यामल वसुधा-तल पर उत्थित हरित-तरंग !
पले हुए हैं यहाँ आप ही पंजर विना विहंग ;
गावें पिक, नाचें मयूर तो कूदें क्यों न कुरंग ?
ऐसा ठौर और हम दोनों विचर रहे हैं संग,
देख रहा मैं स्वप्न भले ही, किन्तु न हो वह भंग ।

तत्त्व तल से ही निकलता,
देख लो, यह रहँट चलता।

चकित हरिणी-सी न चौंको, निकट जाओ, डर नहीं है,
वृषभ-वाहन मुंडमाली वह विकट यह हर नहीं है,
शुद्ध शंकर-रूप है यह, प्रकट प्रलयंकर नहीं है;
शस्य में है वास इसका, घोर मरघट घर नहीं है!

लोक इससे फूल फलता,
देख लो, यह रहँट चलता।

हर-जटा की घन-घटा का यह घरर घर्घर नहीं है,
मधुर मर्मर से अधिक क्या यह चरर चर्मर नहीं है?
हरि कहूँ वा विधि, झरित क्या सुरसरित झरझर नहीं है?
प्रकट धन्वन्तरि चला क्या अमृत-घट भरभर नहीं है?

दूर हो बाधा-विकलता;
देख लो, यह रहँट चलता।

यन्त्र है यह, पर नहीं कुछ पाप वा उपपाप इसमें,
सहज शीलता भरी है, फिर रहे क्यों ताप इसमें ?
डूब बहता है प्रखर तर काल का अभिशाप इसमें !
खेलता-सा दीखता है आप अपना आप इसमें !

और पालक अन्न पलता।
देख लो, यह रहँट चलता।

धन्य तू अयि यन्त्र-घटिके, क्या करूँ तेरी बड़ाई,
एक साथ उड़ेल सब रीती गई, भर लौट आई।
कह, कहाँ आवागमन की यह अनोखी युक्ति पाई,
नियत बन्धन में पड़ी भी मोल-सी तू मुक्ति लाई।

धन्य है तेरी कुशलता !
देख लो, यह रहँट चलता।

५३

उठ आ, उठ आ, मेरे मानी,
सूखा जाय सब कुछ बाहर का,
इतने भीतर पैठ न पानी!
कृपक अथक तेरे उद्योगी,
जैसे कूट-काव्य-रस-भोगी!
अरे, स्नेह की धार आज भी
वहा रही है पिरती वानी!
उठ आ, उठ आ, मेरे मानी!
चाहे तो ऊपर चढ़ जाना,
अथवा फिर नीचे वढ़ जाना,
दरस-परस से ही सरसेंगे
ये प्यासे पौधे, ये प्रानी!
उठ आ, उठ आ, मेरे मानी!

सूख गई यदि मेरी वारी,
तो मर मिटी मधुरिमा सारी।
फिर तेरा भी मूल्य बता, क्या?
दूर नहीं अब नीरद दानी।
उठ आ, उठ आ, मेरे मानी!

स्वार्थ सधे परमार्थ न जावे,
ऐसा उद्यम किसे न भावे?
तेरे इस उद्धार-कार्य को,
निज हितार्थ ही, हमने ठानी।
उठ आ, उठ आ, मेरे मानी!

## ५४

आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया ,
लो, रसाल - गन्ध-जात-पुलक भेंट लाया ।

दुग्ध-भार मन्द मन्द ,
लौट पड़ा धेनु - वृन्द ,
वेणु -छन्द गूँज उठा, हम्बारव छाया ।
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया ।

मृग - मयूर, पेड़ - पत्र ,
नाच रहे यत्र - तत्र ;
फैल गया सान्ध्यराग, गीत गया गाया ।
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया ।

सिर के घट नीर-भरे ,
उर के हैं क्षीर-भरे ।
माँ है यह, तब न तुम्हें 'बेटी' कह पाया !
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया ।

गोबर से गेह लिपे,
दीपक से दिव्य दिपे।
छीकों पर झूल रही स्नेहमयी माया!
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।

आँगन में घूम घूम,
बच्चे कर रहे धूम;
मानें थक हार कहाँ गोरस की काया?
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।

तरल वे कटाक्ष नहीं,
सरल हास्य सभी कहीं;
पति से भी गति विशेष रखती है जाया!
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।

नन्दीगण नित्य जहाँ,
शिव प्रयाण करें कहाँ?
सुन्दर शुचि सर्ग स्वतः सत्य में समाया!
आगे यह मुक्त वात स्वागतार्थ आया।

५५

काम कुछ विश्राम में भी क्यों न हो ?
ग्राम में तुम पौर लक्ष्मी-सी रहो।

विविध स्वर वादित्र पावें,
लोग हम-सा मित्र पावें।
भित्तियाँ नव चित्र पावें,
गृह विचित्र चरित्र पावें!

कर सकोगी कष्ट क्या इतना कहो ?
ग्राम में तुम पौर लक्ष्मी-सी रहो।

गाँव की वे सरल बहनें
विविध पुष्पाभरण पहनें।
केश हो बन जायँ गहने,
तदपि तुम पाओ उलहने।

सब अनोखे भोज-रस भोगें अहो!
ग्राम में तुम पौर लक्ष्मी-सी रहो।

दो फलों से एक डाली
ज्यों फला दे दक्ष माली,
ग्राम पुर के बीच वाली
हो नई संस्कृति निराली।
सफल निज करुणा करो, यह श्रम सहो।
ग्राम में तुम पौर लक्ष्मी-सी रहो।

उतर ऊँचे अचल-पद से,
निकल नीचे बद्ध ह्रद से,
चूम क्षिति को क्षेम-छद से,
बढ़ कहीं भी प्रेम-मद से,
लोक में करुणा-नदी-सी तुम बहो।
ग्राम में तुम पौर लक्ष्मी-सी रहो।

५६

जननि, तू निर्भय मेरी गोद में
दे दे टुक अपना लाल।
लगेगी दीठ न उसे, विनोद में
पावेगा मोद कुणाल।

## ५७

प्रिये, खुला ही अच्छा द्वार।
आने दो पहली बूँदों की रस-भीनी बौछार।

नहीं कहीं छप्पर तो चूता?
मिला नया घर हमें अछूता।
छोटा ही है गाँव हमारा, फिर भी बड़ा उदार।
प्रिये, खुला ही अच्छा द्वार।

सब कहते हैं, तुम क्या आई,
प्रिय-पर्जन्य साथ ही लाई!
लिया एक आभार-रूप में सबने अपना भार!
प्रिये, खुला ही अच्छा द्वार।

भवन-समान यहाँ भी भुज भर,
धरो मुझे कौंधे से डर कर।
यह सौंधी भू-सुरभि वहाँ से कम क्या किसी प्रकार?
प्रिये, खुला ही अच्छा द्वार।

## ५८

खुला खड़ा है घर यह मेरा ,
द्वार-दीप बढ़ गये अचानक, छाया यहाँ अँधेरा ।

अतिथिदेव, हा ! लौट न जाओ ,
कोई क्यों न रहो, तुम आओ ।
नारायण हो नर के भीतर डालो अपना डेरा ।
खुला खड़ा है घर यह मेरा ।

तरस न तुम्हें खिलाऊँगा मैं ,
आँसू नहीं पिलाऊँगा मैं ;
स्नेह-सिद्ध मन की बलि देकर चिर कृतार्थ हो चेरा ।
खुला खड़ा है घर यह मेरा ।

## ५६

दिव से गिरती है जलधार ,
उठते हैं मेरी अवनी से क्या अंकुर-उद्गार !

दूध गाय के थन से बहता ,
वह भी नीचे आकर रहता ,
ऐंठ उर्ध्वगति ही रखता है पौनी, तेरा तार !
दिव से गिरती है जलधार ।

हमको दिव की दया जिलावे ,
धरा खिलावे, गाय पिलावे ।
और हमारी पत रक्खे तू पौनी, गुण विस्तार !
दिव से गिरती है जलधार ।

६०

ग्रामीण नागरों से उदार,
मैं देख चुका हूँ वार वार।

राज्य कार्य के लिए भ्रमण कर,
समझ चुका हूँ परिक्रमण कर।
लिया नया रस इनमें मैंने,
किया नहीं मृगया-विहार।
मैं देख चुका हूँ वार वार।

सरल विचारी, शुद्धाचारी,
बुद्धिमान भी भोले भारी,
विधि-वादी भी दृढ़ उद्योगी,
सन्तोषी हैं सब प्रकार।
मैं देख चुका हूँ वार वार।

अति सहिष्णु, अति अध्यवसायी,
नहीं किसीके प्रति अन्यायी,
चल रहते विनम्र, सचमुच ही
लिये हुए हैं भूमि-भार।
मैं देख चुका हूँ वार वार।

अतिथि-जनों पर इनकी माया ,
यथा प्रवासी परिजन आया !
लेते हैं आगत को किंवा
देते हैं निज को विसार ?
मैं देख चुका हूँ वार वार ।

एक अनोखी समता सबमें ,
श्रम की क्षमता, ममता सबमें ,
कच्चे भी क्या स्वच्छ एक से
लिपे-पुते घर और द्वार ।
मैं देख चुका हूँ वार वार ।

गृहिणी इनकी मधुगृह-रानी ,
ये अमात्य उसके अभिमानी !
पशु भी इनके जन बन बैठे—
ले - देकर प्रेमोपहार ।
मैं देख चुका हूँ वार वार ।

पानी नहीं, अन्न यह बरसा !
व्यथ न गई बूँद भी भू पर, शस्य पुलक-सा सरसा !
हुई रसायन-सिद्धि नई यह,
वह मृण्मयी हिरण्मयी यह !
कायाकल्प होगया आहा ! किस पारस ने परसा !
पानी नहीं, अन्न यह बरसा !

राजा का यह धर्म पला है,
और प्रजा का पुण्य फला है।
भाग्य भला है आर्यदेश का, जिस पर दिव-सा दरसा !
पानी नहीं, अन्न यह बरसा !

जान न पड़ा, लिया कब, कैसे ?
फेर दिया नभ ने अब ऐसे।
ऐसे ही ले कर लौटा दे निज नरनाथ अमर-सा !
पानी नहीं, अन्न यह बरसा !

पलटो गई प्रकृति-नाटक की नूतन चित्रपटी ;
क्या विचित्र लीला-शीला है नीला नियति-नटी ।

चुके मयूर नाच कर जैसे ,
आ पहुँची हंसावलि वैसे !
अटी चन्द्रिका निर्मल नभ में, जो घन घटा हटी ।
क्या विचित्र लीला-शीला है नीला नियति-नटी ।

देख तिरोहित रोहित - रेखा
उड़ी कलम लेकर शुक - लेखा !
नहीं फेन-बुदबुद तो शतदल, निखरी नीर-तटी ।
क्या विचित्र लीला-शीला है नीला नियति-नटी ।

हरी भूमि अब हेममयी है ;
अपनी यात्रा क्षेममयी है ।
जान न पड़ी, प्रेम में, इतनी वेला यहाँ कटी ।
क्या विचित्र लीला-शीला है नीला नियति-नटी ।

यह परिपाक-समय शुभ-फल का ,
जन-जन में अनुभव नव-बल का ।
गुड़-गोरस, रस-रास-रंग से पूरे लोक - घटी ,
क्या विचित्र लीला-शीला है नीला नियति-नटी ।

६३

हम कौन, कहाँ के आये ?
फिर भी कितने अतिथि-समादर हमने तुमने पाये ।

अपने करके लिये गये हम ,
कितने उपकृत किये गये हम ,
बस रस ही रस पिये गये हम ,
लिया सभी, क्या लाये ?
हम कौन कहाँ के आये ?

लिये प्यार का एक उलहना ,
तुम ऐसे ही सहृदय रहना ।
हम क्या कहें, कठिन है कहना .
कितने खेले - खाये ।
हम कौन कहाँ के आये ?

बीत गये ये दिन, छिन जैसे ,
रहते हैं क्या अवसर एसे ?
जायँ-न जायँ-आज हम कैसे ?
रहे भाव मन भाये ।
हम कौन कहाँ के आये ?

जाना ही होगा परन्तु अब ,
कौन कहे, फिर मिलन कहाँ कब ?
जो है यहाँ, अनिश्चित है सब ,
रोये भी, जो गाये !
हम कौन कहाँ के आये ?

६४

शुद्ध हरे, सम्बुद्ध हरे।

हुआ भुलाने को क्या हमको तू अवतरित अरे।

कैसे यह विश्वास करें हम ?

तेरे रहें, तरें-न तरें हम,

चढ़े चलें, बस चढ़े चलें हम श्रद्धा-भक्ति-भरे।

शुद्ध हरे, सम्बुद्ध हरे।

ले चल हमें कहीं भी स्वामी,

हम तो हैं तेरे अनुगामी,

भला मरण भी हमें शरण में चिह्नित चरण धरे।

शुद्ध हरे, सम्बुद्ध हरे।

६५

अरी सत्य-शिव-सुन्दर-वाणी !

आराधन करता है तेरा आज अन्ध यह प्राणी ।

आ, भरसक उच्चार करूँ मैं ,

अपना—सबका शून्य भरूँ मैं ।

सुनें इष्ट सन्देश अखिल जन, कर कृतार्थ कल्याणी !

अरी सत्य-शिव-सुन्दर-वाणी !

आकर बैठ मनोरथ पर तू ,

मुझे खड़ा कर दे पथ पर तू ।

तेरी ध्वनि पर जगती की गति, मेरी वीणापाणी !

अरी सत्य-शिव-सुन्दर-वाणी

## ६६

एक ओर सौ राज-विधान ,
एक ओर मेरे कवि, तेरा एक तनिक-सा गान।

मेरे गोकुल का मोहन तू ,
करता रह नव रस-दोहन तू।
तेरी जय हो, अरे अपार्थिव प्रेमानन्द-निधान !
एक ओर सौ राज-विधान।

देख लेखनी - लक्ष्य गूढ़तम ,
राजदण्ड भी रूढ़ मूढ़-सम।
सावधान, तेरे कटाक्ष में पतनोत्थान समान।
एक ओर सौ राज-विधान।

९७

जागो, जागो, जागो !
कल की चिन्ता करो, आज की यह तन्द्रा तुम त्यागो ।
काल जा रहा, काल आ रहा ! बचो अरे, उठ भागो ;
सुनो, बात इतनी ही तो है, राग छोड़ अनुरागो ।

६८

धार न धरो कृपाण में,
पीती है रस नहीं, रुधिर ही,
किरण फूटकर बाण में।
चिनगारियाँ न छोड़ो आहा!
संघर्षण कर शाण में,
इस प्रकाश में ही जीवन तो
अन्धकार है प्राण में।
चमके नहीं कृपाण तुम्हारी,
बजे न मृत्यु विषाण में।
रुको, दमकती हुई दामिनी,
टूट न पड़े प्रयाण में।
मनुज, जलाओ न वह नरक की
ज्वाला इस परिमाण में,
बुझा सकें न तुम्हारे आँसू
जिसे लोक-कल्याण में।

डरो, नाश न करो औरों का
तुम अपने निर्माण में,
आग लगाकर लखो न कौतुक,
भूले हो किस भाण में ?
सुनो, सत्य भी मर्यादित है
नूतन और पुराण में,
रत्न-दीप्ति के लिए पुरुष क्या,
परिणत हो पाषाण में ?
अथवा उस जीवन से ही क्या,
घृणा भरे जो प्राण में ?
मृग-मरीचिका की आभा से
भला तिमिर ही त्राण में।
यह अगियावेताल, न भूलो
इसके प्रभा - प्रमाण में,
जाने दो मिथ्या प्रकाश वह,
निरत रहो निर्वाण में।

६६

अहो ! लज्जा के बदले गर्व !
यही विजय है, जन ही जन को किये जा रहा खर्व !
देख सबल ! यह कौन प्रणत है ?
विजित, वराक, अवश, आहत है।
नहीं प्रणय से, भय से नत है।
गत गुण-गौरव सर्व !
अहो ! लज्जा के बदले गर्व !

भट, भाटों से घिरा खड़ा तू,
निहतों के ही निकट बड़ा तू।
पातक बनकर पिण्ड पड़ा तू,
कहाँ पण्य का पर्व ?
अहो ! लज्जा के बदले गर्व !-

७०

लो, लहरों सी लाख विकृतियाँ ,
पुरुष, सदा प्रकृतिस्थ रहो ;
डरो परिस्थितियों से यदि तुम ,
तो अपने को नर न कहो ।
अरे, तुच्छ तृण हो क्या तुम, जो
तनिक वात में विवश बहो ?
सहना तो होगा ही होगा ,
धीर-वीर-सम क्यों न सहो ?
हम सबका गन्तव्य एक ही ,
तुम कोई भी मार्ग गहो ;
बढ़ो बन्धु, स्वच्छन्द भाव से ,
रति-मति-यति-गति भंग न हो ।

रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल,
किन्तु एक उस क्षण में कितने भावों के भूचाल !

सचमुच 'पल में प्रलय' अमाया,
कैसी अपने पल की माया !
यहाँ विन्दु में सिन्धु समाया,
वीज-वृक्ष का हाल !
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल ।

रहें शिलाएँ मोटी मोटी,
वड़ी हमें यह मणि ही छोटी ।
स्थिरता रहे खरी वा खोटी,
वहुत यहाँ क्षण-काल ।
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल ।

मिला हमें क्षण-योग यहाँ है,
उसका भी उपभोग कहाँ है ?
मुक्ति वहीं, वह सफल जहाँ है !
प्रणत उसे यह भाल ।
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल ।

रक्त - राव रह गये तरस के,
भले परन्तु घूँट ही रस के।
विषय अन्यथा किसके वसके?
विष-फल न दे रसाल।
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल।

निमिष - दृष्टि ही मैंने पाई,
किन्तु उसीमें सृष्टि समाई।
कैसे विलग करूँ मैं भाई,
ब्राह्मण वा चांडाल?
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल।

जीवन का ऐसा यह क्षण है,
अति अमोघ जिसका प्रहरण है।
देखूँ टिकता कहाँ मरण है?
लाख जटिल हो जाल।
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल।

कुलिश-किरण क्या नहीं कनी में?
सारा सार समाप्त अनी में।
बँधा पड़ा वह विजन वनी में
मेरा काल कराल।
रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल।

७२

बैठे अगति तुम किस विगत के शोक में ?
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में ?

यदि लोक ने अपना दिया लौटा लिया ,
तो फिर यहाँ उसने असंगत क्या किया ?
विष वह किसे दे, रस हमें उसने दिया ,
विष भी पियेंगे हम, हमींने रस पिया ।

सुख-दुःख दोनों मिल बसे इस ओक में ।
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में ?

दयनीय फिर भी–आज भी–यह दीन है ,
जीता किसी विध विवश मरणाधीन है ।
यह तो नहीं, जो सर्वथा गति-हीन है ,
पर बद्ध पक्षी - सा क्षणिक उड्डीन है ।
थमता कहाँ यह आप अपनी रोक में ?
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में ?

हम किन्तु नव नव जन्म पाते जायँगे ,
इसको न मरता छोड़ जाते जायँगे ।
उस स्वर्ग को भी भूल आते जायँगे ,
ऊँचा इसे तब तक उठाते जायँगे ,
जब तक न यह आ जाय अमृतालोक में ।
आक्षेप क्या, आक्रोश क्या इस लोक में ?

७३

ओ मीठे पर मरने वाले,
एक बार खट्टा भी खा ले!

क्या यह चाट एकरसता है?
जली जीभ की परवशता है।
पथ्य अरुचि में ही बसता है;
आवे तो कटुता भी आ ले!
एक बार खट्टा भी खा ले!

दिन चाहे उलटे हों जन के,
रहें भाव सीधे ही मन के।
अनुभव हैं व्यापक जीवन के
मानवतनु के क्लेश-कसाले।
एक बार खट्टा भी खा ले।

७४

नर, तू हो न हाय ! निराश ;
एक दिन कटकर रहेगा मृत्यु का यह पाश ।

पूर्व का संग्रह प्रथम ही बहुत तेरे हाथ ,
वर्त्तमान समक्ष है, देगा नहीं क्यों साथ ।
तू उदार भविष्य में होगा अवश्य सनाथ ,
ज्ञान-धन के अर्थ क्या आगे नहीं अवकाश ?
नर, तू हो न हाय ! निराश ;

कर्म के आकर सदा देते रहेंगे ऋद्धि ,
नित्य होती जायगी बल-बुद्धि-वैभव-वृद्धि ।
साधना से दूर कब तक रह सकेगी सिद्धि ?
स्वस्थ हो, करके रहेगा तू तिमिर का नाश ।
नर, तू हो न हाय ! निराश ।

७५

यों ही बैठ बाट न जोह,
आयगा सो आयगा, उठ, आप भी टुक टोह।
श्रेष्ठ है इस शान्त से तो सौ गुना विद्रोह,
किन्तु मानव, हो न दानव, रख क्षमा, रख छोह।
लक्ष्य माया मात्र है तो तज अरे, यह मोह,
जोड़ चिन्तामणि, न तारे तोड़, माला पोह।
स्वर्ग से ऊँची समुन्नति, किन्तु अवनति ? ओह!
गति रहे, फिर हो भले, आरोह या अवरोह।

तर, धीरज धर, हे नर, न हार ,
झख मार मिलेगा आप पार ।

होकर भी सर्वोपरि उदार
वे शुद्ध बुद्ध विभु निर्विकार ,
करने को ही उत्तीर्ण तुझे ,
अवतीर्ण हुए हैं वार वार ।
तर, धीरज धर, हे नर, न हार ।

माना, दुर्गम पथ का प्रसार ,
पर प्राप्त तुझे पाथेय सार ।
संस्कार जन्मजन्मान्तर के ,
आचार-विहित हितकर विचार ।
तर, धीरज धर, हे नर, न हार ।

दीखे न पार, छूटे अवार ,
चाहे जितनी हो प्रबल धार ,
लेंगे उबार गति-चिह्न अरे ,
बढ़, व्यर्थ न हो नाथावतार ।
तर, धीरज धर, हे नर, न हार ।

७७

पार उतरना है तो तर,
नारायण हो मेरे नर।

यहाँ उसीका स्नेह फला,
जो दीपक-सा उजल जला।
यों सबका निर्वाण भला,
अन्तर से ही अन्तर भर।
नारायण हो मेरे नर।

बन्धन जावें, नियम रहें,
भव न बहें, सौ विभव बहें।
दुःख भले, हम जिन्हें सहें।
विचर जहाँ, निर्वैर विचर।
नारायण हो मेरे नर।

७८

मैत्री-करुणा में कल्याण ,
विश्व-बन्धुता में ही त्राण ।

देश, काल, गुण, कर्म, स्वभाव ,
ये शाखाओं के अलगाव ।
खोलो तनिक मूल-प्रस्ताव ,
तोलो साधन के परिमाण ।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण ।

आकृति, वर्ण और बहु वेष ,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष ।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष ,
देखो अहा ! एक ही प्राण ,
विश्व-बन्धुता में ही त्राण ।

वाद विनोद बनें प्रत्यक्ष,
रहें विभिन्न हमारे पक्ष,
एक मोक्ष ही सबका लक्ष,
करो उसीको ओर प्रयाण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।

रुचि मूलक मानस के मन्थ,
भिन्न भिन्न अपने मत-पन्थ।
रहें अनेक अपार्थिव ग्रन्थ,
मिल एक के लाख प्रमाण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।

७६

होकर रहेगी स्वयं प्राणों की प्रतिष्ठा कभी ,
निष्ठामयी मूर्ति अभी गढ़ता चलूँगा मैं
लिखके सुवर्ण - भाव - चित्र शून्य - पट पर
प्रकट ललाट-लेख पढ़ता चलूँगा मैं
रोक सकता है कौन विघ्न, कौन बाधा मुझे ?
इष्ट पथ में क्यों नहीं बढ़ता चलूँगा मैं
माना स्वर्ग से भी अपवर्ग ऊँचा लक्ष्य मेरा ,
तो भी क्रम-विक्रम से चढ़ता चलूँगा मैं

८०

निज गौरव-लाघव से तुमने
कितने कितने पद-भार सहे ।
तुम घूम यहाँ पहुँचे न कहाँ,
इतने इतने अभिसार अहे !
इस ओर तुम्हीं, उस ओर तुम्हीं,
गतिचोर हमीं मँझधार घरे ।
हम पार गये न गये, तुम तो
पथ ! प्रस्तुत ही प्रतिवार रहे ।

## ८१

अन्य जन्म का-सा आभास ,
धन्य ! कहाँ से आता है तू मधुर मदिर मृदु वास ?

फूला कहाँ फूल वह तेरा ?
भूला-सा परिचित जो मेरा !
कैसा रूप-रंग है उसका, कैसा संग - सुपास ?
अन्य जन्म का-सा आभास ।

दूर कहीं निर्झर की झाड़ी ,
उसमें है तेरी फुलवाड़ी ।
थक-सा गया तुझे लाने में करके पवन प्रयास ।
अन्य जन्म का-सा आभास ।

छोड़ लटें केसर की लड़ियाँ ,
आँखें-सी खोले पंखड़ियाँ !
एक बूँद रस की निज द्विज से रखती है बस आस ।
अन्य जन्म का-सा आभास ।

वृन्तासन हिलता-डुलता है,
इधर उधर मृदु तनु तुलता है।
खुलता हँस मुख नहीं, हृदय ही भरता है उच्छ्वास।
अन्य जन्म का-सा आभास।

उचित नहीं यह, गुन तो मानूँ,
पर मैं उसका नाम न जानूँ।
नहीं सत्य का ही विकास क्या जन-कल्पना-विलास?
अन्य जन्म का-सा आभास।

## ८२

मेरे शुद्ध समीर रे !
लेकर तुझमें श्वास आज भी स्वस्थ कुणाल-शरीर रे !

मेरा देश स्वच्छ सुरभित है,
शुचि-रुचि-शाली रोग-रहित है।
उसमें निज पर-हित समुचित है,
साक्षी तू ध्रुव धीर रे !
मेरे शुद्ध समीर रे !

नाच रहा है कल निर्मल जल,
विरज व्योम, विकसित वसुधातल।
जना रहा है तू सब झलमल,
इष्ट यही तो वीर रे !
मेरे शुद्ध समीर रे !

देख एक मर्मर गति तेरी,
खींचे भी छवियाँ मति मेरी।
करता रह ऐसी ही फेरी,
हरता रह तू पीर रे !
मेरे शुद्ध समीर रे !

मेरा दिन डूब गया आहा !
निज गोगण लेकर उत्सुक-सा चला गया चरवाहा।

शून्य होगया है अब यह वन,
रहा श्वसन ही करता सन सन।
विहग हुए विश्रान्त, उन्होंने नियमित कार्य निबाहा।
मेरा दिन डूब गया आहा !

नीरव-सी जीवन की सरिता,
बहती है अब भी गति-भरिता।
इस गभीर जल को हममें से किसने कितना थाहा ?
मेरा दिन डूब गया आहा !

नहीं दीखता आर-पार कुछ,
और बढ़ा वा घटा भार कुछ ?
मैं इतना ही कह सकता हूँ—हाँ मैंने अवगाहा।
मेरा दिन डूब गया आहा !

नहीं आप मैं, दिन ही डूबा,
उभरा हूँ, फिर भी कुछ ऊबा।
मिला मुझे क्या इस डुबकी में मुक्ताफल मन चाहा ?
मेरा दिन डूब गया आहा !

## ८४

हम बढ़ते ही चलते हैं,
फिर उठते हैं फिर चढ़ते हैं,
जब जो यहाँ फिसलते हैं।

हों तलवों में काँटे गड़ते,
अथवा फूल सिरों पर झड़ते,
पद वे हैं, जो आगे पड़ते !
आप अचल भी टलते हैं !
हम बढ़ते ही चलते हैं।

कौन कहे, कब पहुँच चुकेंगे ?
किन्तु बीच में हम न रुकेंगे,
विघ्नों के आगे न झुकेंगे,
व्रत क्या यों ही पलते हैं ?
हम बढ़ते ही चलते हैं।

मृत्यु एक यति अपनी गति में,
नीचा स्वयं स्वर्ग उन्नति में !
एक मुक्त ही सबकी मति में,
बन्धन सबको खलते हैं।
हम बढ़ते ही चलते हैं।

## ८५

झपक गई हैं मेरी पलकें,
दीख रही हैं मुझे स्वप्न में कैसी कैसी झलकें।

आहा! यह भविष्य की झाँकी,
विकसित वर्त्तमान की आँकी,
लुठित कन्धरा पर क्या बाँकी
वे अतीत की अलकें।
झपक गई हैं मेरी पलकें।

कौन कौन मणियाँ यह धारे,
कंकड़-से हैं रत्न हमारे।
वारे गये गगन के तारे,
छूटी छवि की छलकें।
झपक गई हैं मेरी पलकें।

वर्ण और आकृतियाँ कैसी
परिवर्तित हैं चाहे जैसी।
देख विलक्षण कृतियाँ ऐसी
सुर-शिल्पी भी ललकें!
झपक गई हैं मेरी पलकें।

अपने अजर-अमर जैसे जन,
नवनव गीत-काव्य छवि-दर्शन,
नये फूल-फल, नवल धान्य-धन,
कन मोती - से ढलकें!
झपक गई हैं मेरी पलकें।

धन्य मनोरथ-सी गति-माया,
जो चाहा सो पल में पाया।
विस्मय है, फिर भी भय छाया!
तो क्यों हृदय न दलकें?
झपक गई हैं मेरी पलकें।

बनो वीर, तुम तनिक विनीत ,
बाहर से ही लौट न जावे वह बाहर की जीत ।

किसकी आँख झँपाते हो तुम ?
किसको खड्ग कँपाते हो तुम ?
देखो भीतर, स्वयं तुम्हें क्या नहीं सताता शीत ?
बनो वीर, तुम तनिक विनीत ।

ठहरो, तुमने वही कमाया ,
जिसे अन्य ने यहाँ गमाया ;
रहा जहाँ का तहाँ गणित तो, वृद्धि हुई क्या मीत ?
बनो वीर, तुम तनिक विनीत ।

विनिमय दिये विना तुम लोगे ,
तो फिर तुम्हीं कहो, क्या होगे ?
धनी अन्य वे, विना मूल्य जो कर लेते हैं क्रीत ।
बनो वीर, तुम तनिक विनीत ।

तुमसे जितने लोग डरेंगे ,
उतने उलटे यत्न करेंगे ;
यहाँ अभय देकर ही सबको हो तुम आप अभीत ।
बनो वीर, तुम तनिक विनीत ।

८७

जाग ज्योति में तू अयि जगती,
अन्धकार में सोऊँ मैं!
ढूँढ़ खोजकर तू औरों की,
अपने को भी खोऊँ मैं!

बढ़ तू अपने क्रम-विकास पर,
तुझे बधाई इस प्रयास पर।
तेरे प्रगति-विलास-हास पर,
बता, हँसूँ वा रोऊँ मैं?
जाग ज्योति में तू अयि जगती,
अन्धकार में सोऊँ मैं!

जीत जीत कर जीती रह तू,
भर, न कहीं से रीती रह तू,
खोज खोज रस पीती रह तू,
विष ही तनिक विलोऊँ मैं!
जाग ज्योति में तू अयि जगती,
अन्धकार में सोऊँ मैं!

अपने रँग में मनुज मगन है,
हरी भूमि है, नील गगन है।
मैं ही मैं की तुझे लगन है,
तू ही तू ही होऊँ मैं।
जाग ज्योति में तू अयि जगती,
अन्धकार में सोऊँ मैं!

मेरे दुकूल का चुप छुप छोर खींचती है,
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है?

वह स्वप्न निज दिशा में
है खींचता निशा में,
जब तक जगूँ जगूँ, सुध आ भोर खींचती है!
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है।

उड़ भृंग जा रहा है,
कुछ और पा रहा है,
कल कुंज की सुरभि, क्यों तू डोर खींचती है?
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है?

इन काननों-नगों में,
आकर उलझ पगों में,
उद्यान की लता हा! चित चोर खींचती है!
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है?

अब झाड़ मात्र द्रुम है,
सूखा स्वयं कुसुम है;
फिर क्यों बयार इसको झकझोर खींचती है?
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है?

वह प्रात दूर अब भी,
वह रात शेष, तब भी,
आगे खुली खड़ी जो यह खोर खींचती है।
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है?

मैं क्यों डरूँ नियति से,
जाऊँ न क्यों स्वगति से?
जब कर्म की कृपा की यह कोर खींचती है;
स्मृति, तू बता, मुझे अब किस ओर खींचती है?

## ८९

वेदने, माना तुझे मैं जानता हूँ,
किन्तु मेरा मन, नहीं जो मानता हूँ।

सहज ही तेरी प्रकृति प्रतिकूल,
किन्तु निष्फल है यहाँ वह शूल।
बहुत गहरा मर्म मय यह मूल,
जा, भली तेरे विषय में भूल।
बहुत यह भी, जो मुझे पहचानता हूँ,
किन्तु मेरा मन, नहीं जो मानता हूँ।

संगिनी के क्षार जल की आस?
पर न उससे बुझ सकेगी प्यास!
रोम-कण्टक-विपिन में सविलास,
कर रही है वह प्रथम ही वास!
ठान अपनी एक मैं भी ठानता हूँ।
वेदने, माना तुझे मैं जानता हूँ।

९०

ज्योति नहीं, पर इन आँखों में
शेष आज भी जल है,
और प्रफुल्ल उल्लसित उसमें
मेरा हृदय - कमल है।

भर ले आकर वह जन, जिसका
सूखा अन्तःस्थल है,
धारा वह प्रस्तुत है, धो ले
मिटा न जिसका मल है।

जगती, तेरे सुप्रभात में
बचा कौन तृण-दल है,
छूट गया फलने से जिसमें
मेरा मुक्ता - फल है?

मेरा घट भरपूर और यह
मानस आज अतल है,
ज्योति नहीं, पर इन आँखों में
शेष आज भी जल है।

## ६१

चाहता हूँ क्यों सबका त्राण ?
स्वार्थ हेतु, सबका होगा तो मेरा भी कल्याण।

न हो अपव्यय इस जीवन का,
क्या उपयोग करूँ मैं तन का।
आ सकते हैं काम किसीके क्या ये आकुल प्राण ?
चाहता हूँ मैं सबका त्राण।

मैं असमर्थ अन्ध हूँ लोगो,
मेरे लिए और टुक भोगो।
अपना मरण मुझे दे दो तो पा जाऊँ निर्वाण।
चाहता हूँ मैं सबका त्राण।

## ६२

अहा ! रह गई सृष्टि यह सन्न !
क्या मेरे गाने में सबका रोना था प्रच्छन्न ?

पंछी चुगना छोड़ हुए ज्यों अन्यमनस्क उदास ;
फीका ज्यों पड़ गया आप ही सान्ध्य गगन का हास ।

झलके ज्यों तारों के आँसू, अम्बुज ज्यों आपन्न ।
अहा ! रह गई सृष्टि यह सन्न !

सुध कुछ ऐसी ही प्रभात की उठी मुझे यह जाग ,
रोष नियति का जानूँ मैं वह, मानूँ अथवा राग ?

पुरुष विषण्ण रहे तो कैसे दीखे प्रकृति प्रसन्न ?
अहा ! रह गई सृष्टि यह सन्न !

६३

प्रिये, प्रिये, कैसा आभास !
अनजाने आ गये घूमते हम निज पुर के पास ।

गीत एक दो मैंने गाये,
खिंच-से तातचरण ये आये !
आँखों में हैं आँसू छाये
मुख है हाय ! उदास ।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास !

ज्यों ही मुझे इन्होंने परसा,
निशि में भी मानों दिन दरसा !
जल ही नहीं दृगों से बरसा,
हुआ प्रकाश - विकास !
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास !

मन्त्र-दीप ज्यों दृग ये जागे ,
वही दृश्य सब भागे भागे ,
आप आ रहे हैं अब आगे—
निज जन नगर-निवास ।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास !

मागूँ मैं क्या, मिला स्वयं सब ,
कैसे हो सन्तोष इन्हें तब ?
माँ को क्षमा करें ये बस अब .
पूरे मेरी आस ।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास !

सफल करूँ निज नई दृष्टि में ,
देखूँ निर्मल निखिल सृष्टि में ,
पाऊँ सबकी प्रेम - वृष्टि में
दूँ सबको विश्वास ।
प्रिये, प्रिये, कैसा आभास !

९४

रह मरण, फिर आगया मैं !
देख जीवन ही अमर है, जन्म फिर यह पागया मैं ।

मीत, उलटी क्यों कहूँ मैं, सरल-सीधी रीति तेरी ;
मीत आप स्वकर्म से तू, भीति ही है नीति तेरी ।
गलित जो हममें हुआ, गावे भले गुण-गीति तेरी ,
पा सकी प्रत्यय कहाँ वह प्रीति और प्रतीति तेरी ?
मात्र परिवर्त्तन जहाँ था, व्यर्थ धोखा खागया मैं ।
रह मरण, फिर आगया मैं !

निज रसों का कोप-शोषण देखता था काल से मैं,
और अपने को जला-सा जानता था ज्वाल से मैं।
क्यों न बचता फिर यहाँ तुझ-से कठोर-कराल से मैं?
'किन्तु कह, अब भी डरूँ क्या तुच्छ तेरे जाल से मैं?

छत धरा-धन उठ गगन में अमृत-घन बन छागया मैं,
रह मरण, फिर आगया मैं!

स्मरण रख, तेरे नहीं, भवितव्य मेरे हाथ मेरा,
'जीर्ण पर तू जी न क्यों, नव भव्य मेरे हाथ मेरा
फल कहीं हो, पर यहाँ कर्तव्य मेरे हाथ मेरा,
मुक्ति-मख में होमने को हव्य मेरे हाथ मेरा;

भागई निज बलि मुझे है और उसको भागया मैं,
रह मरण, फिर आगया मैं!

मान तू ईर्ष्या भले, मैं द्वेष क्यों तुझसे करूँगा?
निज विजय तुझ पर तुझी से भेंट लेकर भव तरूँगा?
काल-फणि, तेरा विषम विष घूँट जब घट में भरूँगा,
हार-सा मणिधर, तुझे तब इस हृदय पर मैं धरूँगा,

'और जानूँगा तभी—मद गर्भ-भय-गद डागया मैं,
रह मरण, फिर आगया मैं!'

अर्पित हो मेरा मनुज-काय,
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

छोड़े मैंने सब राज-पाट,
मैं नहीं चाहता ठाठ-बाट।
घूमूँ अब घर घर, घाट घाट,
दूँ सुगत-गिरा का दिव्य-दाय
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

सुख भोग चुका मैं जाग जाग,
दे दुःखी अब निज दुःख-भाग।
रोदन पर वारे जायँ राग,
यह जाता जीवन क्यों न जाय—
'बहुजन-हिताय, बहुजन सुखाय।'

हे जन, अर्जन से मुँह न मोड़,
मिल सके जहाँ जितना, न छोड़।
घर भर ले सब कुछ जोड़ जोड़,
पर यह तो कह, किस हेतु हाय!
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

वसन्त, १९९८